जीव को परतंत्र बनाने वाला शत्रु - कर्म

अनुसंधानकर्त्री –

अदीबा नाज

संस्कृत विभाग, सनातन धर्म महाविद्यालय, मुज़फ्फरनगर

'कर्म और आत्मा का जो एक क्षेत्राावगाह रूप प्रवेश है वह बन्ध कहलाता है।[1] जो बाँध देता है अर्थात् जो दूसरों के अधीन कर देता है परतंत्रा कहलाता है। वह (कर्म) बंध है।[2] जैन दर्शन में जीवन और जगत के संचालन के संबंध में छह द्रव्य माने जाते हैं। वे इस प्रकार हैं– धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय।[3] इन सभी द्रव्यों का अपना–अपना पृथक–पृथक स्वभाव है।

पूर्वोक्त छह दृव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो आत्मा से स्वभावतः अलिप्त हैं। ये जीव की गति, स्थिति, अवकाश और समयादि व्यवहार में सहायक निमित्त बनते हैं, किंतु जीव को बाँधने और परतंत्रा करने का इनका स्वभाव या सामर्थ्य नहीं है। जीव और पुद्गल दोनों में चैतन्यशील ज्ञानवान जीव ही है, पुद्गल तो जड़ और ज्ञानशून्य है, इसलिए जीव (आत्मा) अपने स्वभाव को भूलकर विभाव में रमण करता है और उसे ही अपना स्वभाव समझता है और मन, वचन, काय में प्रवृत्त होता है, तब कर्म पुद्गल पर हावी हो जाते हैं और उसके आत्म प्रदेशों के साथ चिपक जाते हैं और जीव को परतंत्रा कर देते हैं।

कर्मों के कारण आत्मप्रदेशों में कषायों के उदय होने से तीव्रभाव उत्पन्न होता है और उस तीव्रभाव से कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल द्रव्य में कर्मरूप परिणमन होता है। यह बन्ध ही जीव के संसार होने का कारण बनता है। यहीं से जीव का परतंत्राीकरण हो जाता है।[4]

मनुष्य के शुभ–अशुभ कर्मों का उदय ही उसके सुख–दुख का कारण होता है।[5] क्योंकि कर्मों का तो भोग ही सार है। इस वाक्य में इतनी गूढता है कि जीव चाहे शुभ कर्म करे या अशुभ भोगने सब पड़ेंगे अच्छे कर्म होंगे तो अच्छा भोगोगे बुरे कर्म होंगे तो बुरा भोगोगे। समयसार में कहा है– जीव के लिए कर्म संयोग ऐसा है जैसा स्फटिक के लिए तमालपत्रा।[6] कर्मों को आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्रा, आनंद एवं शक्तिरूपी धन को लूटने वाले लूटेरे कहा है।[7]

जीव का स्वतंत्राीकरण और परतंत्राीकरण वस्तुतः देखा जाए तो शुद्ध चैतन्य के कारण जीव में स्वतंत्राता की धारा सदैव प्रवाहित रहती है, किंतु जब वह चैतन्य, राग, द्वेषादियुक्त होता है तो परतंत्राता की धारा ही साथ–साथ प्रवाहित होती रहती है। कर्मों से बंधा होने के कारण जीवों की स्वतंत्राता आवृत्त हो जाती है और परतंत्राता की अपेक्षा स्वतंत्राता टिक नहीं पाती। स्वतंत्राता चलती है पर कर्मों के कारण परतंत्राता उस पर हावी हो जाती है।[8]

परमार्थ से जीव का न कोई शत्राु है, न कोई मित्रा। संसार का संबंध तो नटों के समूह के समान है। अज्ञानी जीव पाप कर्म का बंध करता है और फिर उस पाप कर्म के निमित्त संसार के जाल से छूटना कठिन हो जाता है।[9] संसार में भोग ही सार है।[10] हमारे कर्म और हमारे भोग में एक अनिवार्य कार्य–कारण सम्बन्ध है। यह बिल्कुल सत्य है कि जो मनुष्य करता है, उससे अन्यथा नहीं भोगता। कर्म को भोग की तैयारी बताया है। कर्म बीज है और भोग उसका वृक्ष।[11] आत्मा अपने मूल स्वरूप को यदि जान ले, मान ले तो उसकी चेतना शक्ति अति प्रबल हो जाती है। अतः यदि वह प्रबल रूप से जागृत हो जाये और दृढ संकल्प पूर्वक ज्ञानबद्ध हो जाये कि मुझे यह कार्य बिल्कुल नहीं करना है, तो फिर संस्कार या कर्म कितने ही प्रबल क्यों न हो एक झटके में वह उन्हें तोड देगा।

स्वतंत्राता और परतंत्राता दोनों एक गाड़ी के दो पहिये हैं, एक दूसरे के सापेक्ष हैं। जैसे कोई व्यक्ति शराब पीता है, वह शराब पीने में स्वतंत्रा है इच्छा हो तो पिए इच्छा न हो तो न पिए परन्तु यदि पीता है तो नशा चढ़ेगा ही उसका फल तो उसे भोगना पड़ेगा ही इस प्रकार शराब पीने में वह स्वतंत्रा है पर उसका परिणाम भोगने में परतंत्रा है।[12]

भगवद्गीता में इसी सिद्धान्त को बताया गया है– 'तेरा कर्म करने में अधिकार है, अर्थात् कार्य (कर्म) करने में तू स्वतंत्रा है, किन्तु उसके फल में तेरा अधिकार कदापि नहीं है अर्थात् उसका फल भोगने में परतंत्रा है।[13]

कर्मकर्ता की जितनी स्वतंत्राता कर्म करने की है उतनी ही जिम्मेदारी उस कर्म के फल भोगने की होती है। कहावत भी है जितनी स्वतंत्राा उतनी जिम्मेदारी तिममकवउ पउचसपमे तमेचवदेपइपसपजलण [14] इसका यथार्थज्ञान कर्मकर्ता को रखना आवश्यक है। कुछ भी करने के बाद फिर मनुष्य चाहे कि उसका फल न भोगना पड़े, यह असम्भव है।

तुलसीदास जी कहते हैं–

कर्मप्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करही तो तस फल चाखा।[15]

निष्कर्ष : यह है कि, जीव की कर्म परतंत्राता का आदि बिंदु शरीर है। आत्मा के साथ शरीर का संयोग होने से ही कर्म आत्मा को प्रभावित कर लेते है। आत्मा के साथ शरीर है वहां तक मानव एक या दूसरे प्रकार से प्रभावित और परतंत्रा रहता है।

इस प्रकार जीव अपने कर्तृत्व में स्वतंत्रा है, किन्तु फल भोगने में परतंत्रा। एक बार कर्म करने के पश्चात् जो भी परिणाम बंधन आ पड़े, वह जीवात्मा को स्वीकार करना ही पड़ता है।

(1) धन्यकुमार चरितम्– पृष्ठ सं0–65 श्लोक सं0– 53
(2) बंधविहाणे। कर्मग्रंथ– पृष्ठ सं0 12
(3) तत्त्वार्थसूत्रा (उमास्वाति)– सूत्रा–3
(4) धन्यकुमार चरितम्– पृष्ठ सं0–65 श्लोक सं0–53
(5) धन्यकुमार चरितम्– पृष्ठ सं0–121 श्लोक सं0–27
(6) समयसार–कुंदकुंदाचार्य– पृष्ठ सं0–89
(7) बंधविहाणे मूल पयडिबंधो। कर्मग्रंथ पृष्ठ सं0– 12
(8) कर्मवाद– पृष्ठ सं0–89
(9) धन्यकुमार चरितम्– पृष्ठ सं0–39 श्लोक सं0–27, 28
(10) धन्यकुमार चरितम्– पृष्ठ सं0–5 श्लोक सं0–14
(11) महावीरः परिचय और वाणी (पंचम अध्याय) पृष्ठ सं0–93 मोतीलाल बनारसी
(12) धर्म और दर्शन (उपा0 देवेन्द्रमुनि) पृष्ठ सं0–50
(13) श्रीमदभगवद्गीता, गीता प्रेस– गोरखपुर अध्याय–2–47
(14) कर्मविज्ञान– भाग–1 (उपा0 देवेन्द्रमुनि) पृष्ठ सं0–430
(15) रामचरितमानस (गोस्वामी तुलसीदास)